एक सिनेमाई कल्पना
जोज़ेफ़ वर्शिंग और बॉम्बे टॉकीज़

यह प्रदर्शनी एक ऐसी दुनिया की कहानी बताती है जो विश्व के दूर-दूर के कोनों से जुड़ी है, सांस्कृतिक अभिसरण की ऐसी एक कहानी जो बर्लिन और कलकत्ता, म्यूनिक और बॉम्बे को एक दूसरे के क़रीब ले आई। प्रदर्शित फ़ोटो जर्मन सिनेमॅटोग्राफ़र जोज़ेफ़ वर्शिंग के फ़ोटो संग्रह से चुनी गयी है| भारत में बसकर वर्शिंग ने उसे अपनी कर्म-भूमि बना ली थी|वर्शिंग के संग्रह में अभिनेता वर्ग, कर्मी-दल, फ़िल्म-निर्माण की पर्दे के पीछे ली गईं तस्वीरें और फ़िल्मों के प्रचार फ़ोटो हैं। ये तस्वीरें हमें उपनिवेशी हिन्दुस्तान के आखरी कुछ दशकों में फ़िल्म-निर्माण की प्रक्रिया में अहम सौंदर्यपरक निर्णय और निर्णय लेनेवाले रचनात्मक समुदाय की अभूतपूर्व झलकें दिखलाती हैं।

सदी के अंत में, भारतीय कलाकार सक्रिय रूप से सौंदर्यबोध की भाषा का निर्माण करने की कोशिश कर रहे थे -ऐसी भाषा जो राष्ट्रवादी भी हो और आधुनिक भी। वे यूरोपीय शैक्षणिक सिद्धांतों और उपनिवेशवादी ढाँचो से उकता गए थे सो वे स्थानीय कलात्मक वंशावली और ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर हो रहे नये विचारों और तकनिकों में पहल करने वाले आंदोलनों की ओर मुड़ गये। जर्मनी, अपने भारतीय विद्या अनुसंधान के लंबे इतिहास की बदौलत इस प्रयास में सहयोगी बन गया। यही वजह है कि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने १९२० के दशक में जर्मनी का दौरा किया और विनिमय में ऑस्ट्रियाई कला इतिहासकार स्टेला क्रामरिश ने शांतिनिकेतन में शामिल होकर सन १९२२ में कलकत्ता में एक ऐतिहासिक बॉहॉस प्रदर्शनी का आयोजन किया। यह सांस्कृतिक आदान-प्रदान सिनेमा की दुनिया में तीव्रता से महसूस किया गया; *सुमुरन* (१९२०), द *टाइगर ऑफ़ एस्चनापुर* (१९२१)

और द *इंडियन टुम्ब* (१९२१) जैसी "पूर्वी" फ़िल्मों की सफलता से प्रभावित होकर भारतीय फिल्म निर्माताओं ने तकनीकी प्रशिक्षण के लिए कुछ जर्मन स्टूडियो से संपर्क किया। राजा रवि वर्मा पहले ही अपने बड़े पैमाने पर उत्पादित कैलेंडर कला के माध्यम से जर्मन *क्रोमोलिथोग्राफ़िक* तकनीकों और शरीर के बारे में यूरोपीय दृष्टिकोणों को लोकप्रिय बना चुके थे। १९२० के दशक में दादा साहब फ़ाळके, वी शांताराम और हिमांशु राय जैसे ज़िंदादिल राष्ट्रवादी फिल्म निर्माताओं ने इन जर्मन प्रभावों पर ओबरामर्गाव पैशन प्ले, बंगाल स्कूल चित्रांकन, हैमात -फिल्म की ग्रामीण कहानियाँ, आर्ट डेको औद्योगिक डिज़ाइन, और हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की प्रणालियों से प्रेरणा पाकर स्व-सचेत रूप से दोबारा काम किया।

दूसरे विश्वयुद्ध की बदौलत एक अलग तरह का आदान-प्रदान शुरू हुआ। वॉल्टर कॉफ़मन और विली हास जैसे यहूदी जर्मनी से निर्वासित होकर बंबई आए और स्थानीय फिल्म उद्योग में जुड़ गए। सन १९३४ में खुले बॉम्बे टॉकीज़ स्टूडियो की हिमांशु राय के नेतृत्व तले बनी मुख्य टीम उस वक़्त की सांस्कृतिक गतिशीलता का प्रतीक थी। इसमें थे फ़्रान्ज़ ओस्टेन, जोज़ेफ़ वर्शिंग, निरंजन पाल, और देविका रानी। बॉम्बे टॉकीज़ ने भारत के व्यावसायिक फ़िल्मों के रूप को परिभाषित करने में एक मूलभूत भूमिका निभाई और उस युग की कुछ

सबसे प्रतिष्ठित संगीतमय फ़िल्मों का निर्माण किया - ऐसी फ़िल्में जिनमें सामाजिक सुधार के अत्यावश्यक मुद्दों को सामने रखा गया। इन फिल्मों ने खुलकर पूर्व और पश्चिम से उधार लेकर एक नया सौंदर्यशास्त्र तैयार किया जिसे "स्वदेशी आधुनिकतावाद" कहा जा सकता है। यह एक ऐसी मादक मिलावट थी जो हमें देशी और विदेशी, पारंपरिक और प्रयोगात्मक के बारे में स्थित आसान धारणाओं पर सवाल उठाने के लिए प्रेरित करती है।

जोज़ेफ़ वर्शिंग की कलात्मक कल्पना ने बॉम्बे सिनेमा में मनोवैज्ञानिक गहराई और जर्मन अभिव्यंजनावाद के शैलीगत लोकाचार का संचार किया। दूसरी तरफ़, उनका फोटोग्राफिक संग्रह "सिनेमाई" शब्द के एक और अर्थ की ओर इशारा करता है - ऐसा शब्द जिसका उपयोग आमतौर पर उन वास्तविकता के क्षणों का वर्णन करने के लिए किया जाता है जो रोजमर्रा से परे लगते हैं। इन छवियों में हम व्यक्तियों, वस्तुओं और माहौल के बीच हो रही परस्पर क्रिया देखते हैं जिसे वर्शिंग की अंतर्दृष्टी ने कॅमेरे की चौखट में इस कदर पकड़ लिया है कि फिल्म निर्माण के कमरतोड़ काम के पीछे छिपा सौंदर्य और नाटकीय रूप दिखाई दे। हम यह प्रदर्शनी, इस पार-देशी यायावर और भारतीय सिनेमा के अग्रगामी, जोज़ेफ़ वर्शिंग को श्रद्धांजलि के रूप में प्रस्तुत करते हैं।